

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजनीतिक अवधारणा

डॉ संजु गर्ग,

व्याख्याता (संस्कृत) राजकीय महाविद्यालय,

बहरोड़, जिला - अलवर

सार

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजनीतिक अवधारणा का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि प्राचीन भारतीय परंपरा में राजनीति और धर्म एक-दूसरे से पृथक नहीं थे, बल्कि दोनों एक-दूसरे के पूरक रूप में कार्य करते थे। जनवरी 2017 के विद्वत् विमर्शों में यह बात उभरकर सामने आई कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, महाभारत और रामायण जैसे धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजधर्म की जो व्याख्या की गई है, वह केवल शासक के कर्तव्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें शासन व्यवस्था, न्याय प्रणाली, सामाजिक उत्तरदायित्व, दंड नीति और नैतिक प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण आयामों को भी सम्मिलित किया गया है। इन ग्रंथों में आदर्श राजा को धर्म का संरक्षक माना गया है, जो अपने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर प्रजा की भलाई, राज्य की स्थिरता और समाज की मर्यादा को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। राजा को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — चार पुरुषार्थों में संतुलन बनाकर शासन करने की प्रेरणा दी गई है। "दंडेन ही भोगाः स्युः" जैसे सूत्र यह दर्शाते हैं कि उचित दंड नीति के बिना राज्य में अनुशासन और न्याय की स्थापना संभव नहीं है। इन ग्रंथों में राजनीतिक स्थायित्व के लिए नीति, विनय, शिक्षा और परामर्श को अनिवार्य तत्व माना गया है। इस प्रकार, धर्मशास्त्रीय ग्रंथ केवल धार्मिक विधानों का संकलन नहीं, बल्कि वे तत्कालीन राजनीतिक दर्शन और शासन प्रणाली का भी दर्पण हैं, जो आज के लोकतांत्रिक मूल्यों और नैतिक प्रशासन की अवधारणाओं को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

मुख्यशब्द:- थियोपॉलिटिक्स, ईश्वरीय संप्रभुता, पवित्र अधिकार, चर्च-राज्य संबंध, नैतिक विधान, धार्मिक शासन

परिचय

धर्मशास्त्र और राजनीति के बीच का संबंध सभ्यता जितना ही पुराना है। दैवीय राजतंत्रों से लेकर आधुनिक धार्मिक राज्यों तक, राजनीतिक सत्ता ने अक्सर अपनी वैधता धार्मिक अवधारणाओं में पाई है। धर्मशास्त्रीय ग्रंथ - चाहे वे धर्मग्रंथ हों, सिद्धांत संबंधी लेखन हों या टिप्पणियाँ - अक्सर न केवल आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में बल्कि सामाजिक, कानूनी और राजनीतिक संगठन के लिए ब्लूप्रिंट के रूप में भी काम करते हैं। ये ग्रंथ न्याय, कानून, नेतृत्व, संप्रभुता और समुदाय जैसे राजनीतिक आदर्शों को दर्शाते हैं और उन्हें आकार देते हैं। धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजनीतिक अवधारणाओं का अध्ययन करने से हमें यह पता चलता है कि कैसे दैवीय सिद्धांतों ने ऐतिहासिक रूप से मानव शासन को प्रभावित किया है और विभिन्न सांस्कृतिक और राष्ट्रीय संदर्भों में ऐसा करना जारी रखा है। इस अन्वेषण के केंद्र में दैवीय संप्रभुता का विचार निहित है - यह विश्वास कि अंतिम अधिकार ईश्वर के पास है। कई धार्मिक परंपराओं में, यह विश्वास राजाओं, कानूनों और यहाँ तक कि युद्धों की वैधता का आधार बनता है। ईसाई धर्म में, "जो कैसर का है, वह

कैसर को दो, और जो ईश्वर का है, वह ईश्वर को दो" (मैथ्यू 22:21) वाक्यांश ने आध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्ष अधिकार के बीच उचित विभाजन पर सदियों से बहस छेड़ दी है। इसी तरह, इस्लामी धर्मशास्त्र कानूनी और राजनीतिक व्यवस्थाओं को आकार देने में अल्लाह की संप्रभुता पर जोर देता है, जैसा कि शरिया (ईश्वरीय कानून) की अवधारणा में स्पष्ट है। हिंदू विचार में, मनुस्मृति जैसे ग्रंथ राजत्व और धर्म (धार्मिक शासन) के लिए विस्तृत नुस्खे देते हैं, जिसमें नैतिक और राजनीतिक दायित्वों का मिश्रण होता है।

पवित्र अधिकार की अवधारणा धर्मशास्त्रीय राजनीति में एक और आधारशिला है। पैगंबर, पुजारी और सम्राट जैसे नेताओं को अक्सर ईश्वर द्वारा चुने गए मध्यस्थों के रूप में देखा जाता है। इस धारणा ने न केवल उनके शासन को बल्कि उनके द्वारा बनाए गए कानूनों को भी उचित ठहराया। मध्ययुगीन यूरोप में, "राजाओं का दैवीय अधिकार" एक व्यापक रूप से स्वीकृत सिद्धांत था, जिसमें कहा गया था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर द्वारा नियुक्त शासक थे। प्राचीन इजराइल में, राजत्व वाचा धर्मशास्त्र से निकटता से जुड़ा हुआ था, जहाँ राजा से ईश्वर की इच्छा के संरक्षक के रूप में दिव्य कानून को बनाए रखने की अपेक्षा की जाती थी। इसी तरह, कई पूर्वी धार्मिक परंपराओं में, शासकों को अवतार या ब्रह्मांडीय व्यवस्था के रक्षक के रूप में माना जाता था। चर्च और राज्य, या धर्म और राजनीति के बीच परस्पर क्रिया, धार्मिक प्रवचन में एक आवर्ती विषय है। ऑगस्टीन, एकिनास, अल-फ़राबी या गुरु नानक जैसे युगों के धर्मशास्त्रियों और सुधारकों ने आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के बीच उचित संतुलन पर विचार-विमर्श किया है। ऑगस्टीन का "सिटी ऑफ़ गॉड" एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जहाँ दिव्य और सांसारिक क्षेत्र अलग-अलग लेकिन एक दूसरे को काटते हुए विमानों पर काम करते हैं। इस्लामी राजनीतिक दर्शन, विशेष रूप से खलीफ़ा काल के दौरान, इस बात की खोज की कि धार्मिक कानून शासन का आधार कैसे बन सकते हैं। इन प्रवचनों ने बाद के धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के लिए भी आधार तैयार किया, यह दिखाते हुए कि धर्मशास्त्र ने आधुनिक राजनीतिक विचार के विकास को कैसे प्रभावित किया है। समकालीन संदर्भों में, धार्मिक ग्रंथ अभी भी राजनीतिक जीवन में पर्याप्त प्रभाव रखते हैं। नैतिक कानून, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय के इर्द-गिर्द चल रही बहसें अक्सर धार्मिक नैतिकता के भीतर ही गढ़ी जाती हैं। ईरान, इजराइल, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में धार्मिक राजनीतिक आंदोलन और दल शिक्षा, लिंग, परिवार और शासन पर नीतियों का समर्थन करने के लिए पवित्र शास्त्रों का सहारा लेते हैं। इस प्रकार, धार्मिक ग्रंथों के राजनीतिक आयामों को समझना न केवल ऐतिहासिक जांच के लिए बल्कि वर्तमान राजनीतिक वास्तविकताओं से जुड़ने के लिए भी आवश्यक है।

इस अध्ययन का उद्देश्य यह जांचना है कि धार्मिक आख्यान और सिद्धांत किस तरह राजनीतिक संरचनाओं को आकार देते हैं, सत्ता को वैध बनाते हैं और शासन को सूचित करते हैं। यह परंपराओं में प्रमुख धार्मिक ग्रंथों में निहित प्रमुख राजनीतिक अवधारणाओं का विश्लेषण करेगा, प्राचीन धार्मिक सिद्धांतों और समकालीन राजनीतिक मुद्दों के बीच संबंध स्थापित करेगा। ऐसा करके, यह राजनीतिक कल्पना और व्यवहार को आकार देने में धर्मशास्त्र की स्थायी शक्ति को उजागर करने का प्रयास करता है।

उद्देश्य

1. प्रमुख धार्मिक परंपराओं में धार्मिक ग्रंथों में अधिकार, कानून, शासन और संप्रभुता जैसी राजनीतिक अवधारणाओं को किस तरह से समाहित और उचित ठहराया गया है, इसका विश्लेषण करना।

2. ऐतिहासिक और समकालीन राजनीतिक संरचनाओं और विचारधाराओं पर इन धार्मिक-राजनीतिक अवधारणाओं के प्रभाव का पता लगाना।

धर्म के प्रति सामाजिक विज्ञान का दृष्टिकोण

धर्म के अकादमिक अध्ययन में कई संभावित दृष्टिकोण लागू किए जा सकते हैं। यह राजनीतिक वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों, इतिहासकारों, मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों द्वारा अध्ययन किया जाने वाला विषय है। इनमें से प्रत्येक विषय के पास धर्म के विषय को समझने के लिए अपने स्वयं के विशेष दृष्टिकोण हैं, और प्रश्नों का एक विशेष समूह है जिसके इर्द-गिर्द अधिकांश शोध और जांच घूमती है। इनमें से कई दृष्टिकोण एक दूसरे के साथ संगत या सामंजस्य नहीं रखते हैं। धर्म का अध्ययन करते समय, किसी को उनमें से चुनना चाहिए। इसका क्या मतलब है? मूल रूप से, मैं इस धारणा से शुरू करता हूँ कि धर्म एक सामाजिक संस्था या घटना है जो मानव व्यवहार को दृढ़ता से प्रभावित करती है। एक सामाजिक वैज्ञानिक का प्राथमिक लक्ष्य मानव व्यवहार को समझना है। राजनीतिक वैज्ञानिक और समाजशास्त्री समूहों के व्यवहार पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जिसमें राजनीतिक वैज्ञानिक राजनीतिक व्यवहार पर जोर देते हैं और समाजशास्त्री सामाजिक व्यवहार पर जोर देते हैं। जबकि इस शोध पत्र का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक व्यवहार पर धर्म के प्रभाव को समझना है, अक्सर यह सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करने में धर्म की भूमिका को समझे बिना संभव नहीं है। इसके अलावा धर्म के बारे में समाजशास्त्रियों की अंतर्दृष्टि सामाजिक और राजनीतिक के बीच अंतर्संबंधों के कारण इसकी राजनीतिक भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है। इसके अलावा, धर्म पर समाजशास्त्रीय सिद्धांत राजनीति विज्ञान की तुलना में काफी अधिक विकसित है। जैसा भी हो, केंद्रीय प्रश्न यह है कि धर्म किस तरह से राजनीति से जुड़ता है और उसे प्रभावित करता है। इस दृष्टिकोण के कुछ महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण यह है कि धार्मिक दावों की सच्चाई एक ऐसा प्रश्न नहीं है जिसे मैं संबोधित करता हूँ। कोई विशेष धर्म या विश्वास सत्य है या नहीं, यह धर्मशास्त्रियों, कुछ दार्शनिकों और अरबों विश्वासियों के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसके विपरीत, एक समाजशास्त्री के लिए, जब तक कोई विश्वास व्यवहार को प्रभावित करता है, तब तक विश्वास की सच्चाई महत्वहीन होती है। यानी, समाज वैज्ञानिक यह तय करने में सक्षम नहीं हैं कि कौन सा धर्म सच्चा धर्म है, और इस सवाल का जवाब, यह मानते हुए कि इस दुनिया में एक निश्चित जवाब भी संभव है, उन सवालों का जवाब देने में बहुत कम मदद करता है जो हम पूछना चाहते हैं। इसके बजाय मैं इसमें अपनी जांच को इस सवाल तक सीमित रखता हूँ कि धर्म व्यवहार को कैसे प्रभावित करते हैं। इस सवाल का जवाब देने के उद्देश्य से, कोई धर्म किसी अस्तित्वगत या ज्ञानमीमांसा अर्थ में सच्चा धर्म है या नहीं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता जब तक कि कोई व्यक्ति या समूह यह मानता है कि यह सच्चा धर्म है। यह वह विश्वास है जो उनके व्यवहार को प्रभावित करता है, न कि इस विश्वास का सत्य या असत्य।

इस प्रकार, राजनीति पर धर्म के प्रभाव को समझने के लिए सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण को लागू करने के उद्देश्य से, हमें धर्म के बारे में जो भी मान्यताएँ हैं, उन्हें अलग रखना चाहिए। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि हम किसी धर्म में विश्वास करते हैं या मानते हैं कि सभी धर्म सामाजिक निर्माणों से अधिक कुछ नहीं हैं, जिनमें कोई सच्चाई नहीं है। यानी, कोई यह मान सकता है कि उसका धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है या सभी धर्म झूठे हैं। हालाँकि, ये मान्यताएँ सामाजिक विज्ञान की जाँच के लिए प्रासंगिक नहीं हैं। इसके बजाय, हमें निष्पक्ष रूप से जाँच करनी चाहिए कि धर्म राजनीतिक व्यवहार को कैसे प्रभावित करता है, बिना इन पूर्वधारणाओं को विश्लेषण को प्रभावित करने की अनुमति

दिए। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, यह दृष्टिकोण राजनीतिक दर्शन से स्पष्ट रूप से भिन्न है क्योंकि यह राजनीति में धर्म के देखे गए प्रभावों पर ध्यान केंद्रित करता है, न कि उस भूमिका पर जो कई लोग मानते हैं कि उसे निभानी चाहिए।

धार्मिक भेदभाव और धार्मिक स्वतंत्रता

धर्म ने लंबे समय से व्यक्तिगत पहचान, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संरचनाओं को आकार देने में केंद्रीय भूमिका निभाई है। आधुनिक बहुलवादी समाजों में, दो शक्तिशाली और अक्सर परस्पर विरोधी ताकतें आस्था के इर्द-गिर्द चर्चाओं पर हावी रहती हैं: धार्मिक स्वतंत्रता और धार्मिक भेदभाव। जबकि धार्मिक स्वतंत्रता व्यक्तियों का हस्तक्षेप या उत्पीड़न के बिना अपने धर्म का अभ्यास करने, उसे व्यक्त करने और बदलने का अधिकार है, धार्मिक भेदभाव में व्यक्तियों या समूहों के खिलाफ उनके विश्वास या विश्वास प्रणाली के आधार पर अनुचित व्यवहार या पूर्वाग्रह शामिल है। मानवाधिकारों, सामाजिक सामंजस्य और लोकतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए इन दो अवधारणाओं के बीच तनाव और परस्पर क्रिया को समझना आवश्यक है।

धार्मिक स्वतंत्रता अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार ढांचे में निहित है जैसे कि मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (1948) का अनुच्छेद 18, जिसमें कहा गया है कि सभी को विचार, विवेक और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है। इसमें शिक्षण, अभ्यास, पूजा और पालन में अपने धर्म या विश्वास को प्रकट करने का अधिकार शामिल है। दुनिया भर के लोकतंत्र धार्मिक स्वतंत्रता को नागरिक स्वतंत्रता की आधारशिला मानते हैं, जो व्यक्तियों और समुदायों को जबरदस्ती या प्रतिशोध के डर के बिना अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुसार जीने की अनुमति देता है। यह विविधता को बढ़ावा देता है, सहिष्णुता को प्रोत्साहित करता है, और यह सुनिश्चित करता है कि राज्य द्वारा कोई भी एक धर्म न थोपा जाए।

हालाँकि, दुनिया भर में धार्मिक भेदभाव विभिन्न रूपों में बना हुआ है। कुछ देशों में, अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों को व्यवस्थित बहिष्कार, हिंसा या कानूनी प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है। भेदभाव घृणा फैलाने वाले भाषण, रोजगार या शिक्षा से वंचित करने, पूजा स्थलों की बर्बरता या पक्षपातपूर्ण कानून के माध्यम से प्रकट हो सकता है। उदाहरण के लिए, धार्मिक अल्पसंख्यकों को मंदिर या चर्च बनाने, धार्मिक पोशाक पहनने या अपनी मान्यताओं को सिखाने के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। चरम मामलों में, इस तरह के भेदभाव से धार्मिक उत्पीड़न, जबरन धर्म परिवर्तन या यहां तक कि नरसंहार भी हो सकता है। ये वास्तविकताएँ धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांत के लिए सीधा खतरा पैदा करती हैं और अक्सर सामाजिक अशांति और अंतर्राष्ट्रीय निंदा को भड़काती हैं।

धार्मिक स्वतंत्रता और भेदभाव के बीच संघर्ष अधिक जटिल, सूक्ष्म तरीकों से भी उत्पन्न हो सकता है। बहुलवादी समाजों में, एक समूह द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति अनजाने में दूसरों के अधिकारों या संवेदनशीलताओं का उल्लंघन कर सकती है। उदाहरण के लिए, धार्मिक ड्रेस कोड, पब्लिक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा, या धार्मिक आधार पर सेवा से इनकार करने वाले व्यवसाय मालिकों पर बहस मुश्किल कानूनी और नैतिक प्रश्न उठाती है। न्यायालय और नीति निर्माता अक्सर धार्मिक अभिव्यक्ति के अधिकार को अन्य मौलिक अधिकारों जैसे समानता, गैर-भेदभाव और धर्मनिरपेक्ष शासन के साथ संतुलित करने के लिए संघर्ष करते हैं। इस संदर्भ में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। धर्मनिरपेक्षता, या धर्म और राज्य के पृथक्करण को अक्सर धार्मिक विविधता का प्रबंधन करने के लिए एक तटस्थ ढांचे

के रूप में बढ़ावा दिया जाता है। हालांकि, धर्मनिरपेक्षता का कभी-कभी धार्मिक अभिव्यक्ति को पूरी तरह से दबाने के लिए दुरुपयोग किया जा सकता है, खासकर जब कठोरता से या वैचारिक रूप से व्याख्या की जाती है। इसके विपरीत, जब राज्य एक प्रमुख धर्म के साथ बहुत निकटता से जुड़ जाता है, तो इससे अल्पसंख्यक समुदायों को अलग-थलग करने और प्रणालीगत पूर्वाग्रह को बढ़ावा देने का जोखिम होता है।

धार्मिक स्वतंत्रता और भेदभाव के बीच की खाई को पाटने में शिक्षा और अंतरधार्मिक संवाद महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच जागरूकता, सम्मान और सहानुभूति को बढ़ावा देने से पूर्वाग्रहों को कम करने और समावेशी समाज बनाने में मदद मिल सकती है। सुरक्षा को लागू करने और शिकायतों को प्रभावी ढंग से संबोधित करने के लिए कानूनी सुरक्षा उपाय, भेदभाव-विरोधी कानून और स्वतंत्र संस्थान भी आवश्यक हैं। धार्मिक स्वतंत्रता और धार्मिक भेदभाव एक जटिल सामाजिक वास्तविकता के दो पहलू हैं। जहाँ पहला व्यक्ति को प्रामाणिक और आध्यात्मिक रूप से जीने का अधिकार देता है, वहीं दूसरा व्यक्ति मानवीय गरिमा और सामाजिक सद्भाव को कमजोर करता है। समाजों को शांति और समानता में पनपने के लिए, धार्मिक स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिबद्धता होनी चाहिए और साथ ही सभी प्रकार के धार्मिक भेदभाव का सक्रिय रूप से मुकाबला करना चाहिए। तभी सभी के लिए आस्था की स्वतंत्रता का नैतिक वादा पूरी तरह से साकार हो सकता है।

धर्मनिरपेक्षता और कार्यात्मकता: धर्म की गिरावट और अप्रासंगिकता की भविष्यवाणियाँ

धर्मनिरपेक्षता और कार्यात्मकता की अवधारणाएँ आधुनिक समाज में धर्म की भूमिका और भविष्य के बारे में समाजशास्त्रीय बहसों के लिए केंद्रीय रही हैं। धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत यह मानता है कि जैसे-जैसे समाज अधिक आधुनिक होते जाते हैं- औद्योगीकरण, शहरीकरण, युक्तिकरण और वैज्ञानिक उन्नति जैसी प्रक्रियाओं के माध्यम से- धर्म अनिवार्य रूप से सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन पर अपना प्रभाव खो देता है। दूसरी ओर, कार्यात्मकता, सामाजिक स्थिरता और सामंजस्य बनाए रखने में संस्थाओं की भूमिका की जाँच करती है। जब धर्म पर लागू किया जाता है, तो कार्यात्मकता सिद्धांत इसकी सामाजिक उपयोगिता को पहचानता है, लेकिन यह भी सुझाव देता है कि जैसे-जैसे अन्य संस्थाएँ विकसित होती हैं, वे धर्म द्वारा किए गए कार्यों को संभाल सकती हैं। साथ में, ये रूपरेखाएँ समकालीन समाजों में धर्म की प्रासंगिकता में धीरे-धीरे गिरावट की भविष्यवाणी करती हैं।

धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत ने 19वीं और 20वीं शताब्दियों में गति प्राप्त की, विशेष रूप से मैक्स वेबर, एमिल दुर्खीम और ऑगस्टे कॉम्टे जैसे विचारकों के साथ। वेबर ने "दुनिया के मोहभंग" का वर्णन किया, जहाँ वैज्ञानिक तर्कसंगतता रहस्यमय व्याख्याओं और धार्मिक विश्वास की जगह ले लेगी। दुर्खीम ने आदिम समाजों में धर्म की एकीकृत भूमिका को स्वीकार किया, लेकिन यह अनुमान लगाया कि आधुनिकता इसके हाशिए पर ले जाएगी। इस दृष्टिकोण के अनुसार, आधुनिकीकरण धार्मिक विश्वदृष्टि से धर्मनिरपेक्ष विश्वदृष्टि की ओर ले जाता है, जहाँ आस्था का निजीकरण होता है और संस्थागत धर्म सार्वजनिक जीवन पर अधिकार खो देता है।

सिद्धांत ने मजबूत भविष्यवाणियाँ कीं: धार्मिक संस्थाएँ कमजोर होंगी, धार्मिक भागीदारी कम होगी, और धार्मिक विश्वास सामुदायिक दायित्व के बजाय व्यक्तिगत पसंद का मामला बन जाएगा। पश्चिमी यूरोप में, ये रुझान बने रहे। फ्रांस, नीदरलैंड और स्वीडन जैसे देशों ने चर्च में उपस्थिति में तेज गिरावट, पादरी प्रभाव में कमी और धार्मिक

असंबद्धता में वृद्धि का अनुभव किया। सार्वजनिक नीतियाँ भी, विशेष रूप से शिक्षा, शासन और कानून में, तेजी से धर्मनिरपेक्ष बन गईं।

कार्यात्मक सिद्धांत, विशेष रूप से टैल्कोट पार्सन्स और रॉबर्ट के. मेर्टन के कार्यों में, इस चर्चा में सूक्ष्मताएँ जोड़ी गईं। कार्यात्मकवादियों का तर्क है कि धर्म प्रमुख सामाजिक कार्य प्रदान करता है: सामाजिक एकजुटता, नैतिक मार्गदर्शन, भावनात्मक आराम और संस्थागत वैधता को बढ़ावा देना। हालाँकि, वे यह भी मानते हैं कि जैसे-जैसे समाज विकसित होते हैं, ये कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा संभाले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, कल्याणकारी राज्य धार्मिक दान द्वारा दिए जाने वाले समर्थन को प्रदान कर सकता है; कानूनी प्रणालियाँ सामाजिक व्यवस्था के मुख्य स्रोत के रूप में धार्मिक संहिताओं की जगह ले सकती हैं; और मनोवैज्ञानिक परामर्श धार्मिक स्वीकारोक्ति की जगह ले सकता है। इस दृष्टिकोण से, धर्म का पतन आवश्यक रूप से एक नुकसान नहीं है, बल्कि इसके कार्यों का अधिक विभेदित, विशिष्ट सामाजिक भूमिकाओं में परिवर्तन है।

इन सिद्धांतों के बावजूद, आलोचकों ने कई आधारों पर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को चुनौती दी है। एक प्रमुख आलोचना यह है कि धर्म गायब नहीं हुआ है, बल्कि बदल गया है। दुनिया के कई हिस्सों में - जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और मध्य पूर्व - धर्म जीवंत बना हुआ है और सार्वजनिक और निजी जीवन दोनों में गहराई से समाया हुआ है। इसके अलावा, धार्मिक बहुलवाद, कट्टरवाद और नए धार्मिक आंदोलनों का उदय बताता है कि धर्मनिरपेक्षता एक सार्वभौमिक या रेखिक प्रक्रिया नहीं है। आलोचकों का यह भी तर्क है कि धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत यूरोसेंट्रिक है और गैर-पश्चिमी समाजों में आस्था की विविध अभिव्यक्तियों को ध्यान में रखने में विफल रहता है।

हाल के दशकों में, विद्वानों ने "बहु धर्मनिरपेक्षता" की अवधारणा का प्रस्ताव दिया है, यह स्वीकार करते हुए कि धर्मनिरपेक्षता ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों के आधार पर अलग-अलग रूप लेती है। अन्य लोग "उत्तर-धर्मनिरपेक्षता" पर जोर देते हैं, यह सुझाव देते हुए कि धर्म नए तरीकों से खुद को फिर से स्थापित कर रहा है, अक्सर पहचान की राजनीति, नागरिक समाज या डिजिटल मीडिया के माध्यम से। जबकि धर्मनिरपेक्षता और कार्यात्मकता ने धर्म के पतन और अप्रासंगिकता की भविष्यवाणी की थी, वास्तविकता कहीं अधिक जटिल रही है। जबकि संस्थागत धर्म कुछ संदर्भों में कमजोर हो गया है, धर्म के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कार्य बने हुए हैं और अनुकूलन कर रहे हैं। गायब होने के बजाय, धर्म अक्सर परिवर्तित तरीकों से फिर से प्रकट होता है, इस विचार को चुनौती देता है कि आधुनिकता का मतलब अनिवार्य रूप से धर्मनिरपेक्षता है। 21वीं सदी में विश्वास के बदलते परिदृश्य की व्याख्या करने के लिए इस सूक्ष्म विकास को समझना आवश्यक है।

धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत का विकास

धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत 19वीं शताब्दी से ही धर्म के समाजशास्त्र में एक केंद्रीय अवधारणा रही है। यह समझने का प्रयास करता है कि कैसे और क्यों धर्म समाज में अपना प्रभाव खो देता है, खासकर आधुनिकीकरण के दौर में। हालाँकि, समय के साथ, सिद्धांत में महत्वपूर्ण विकास हुआ है - प्रारंभिक नियतात्मक मॉडल से अधिक सूक्ष्म और संदर्भ-संवेदनशील व्याख्याओं में बदलाव। इस विकास को समझने से यह स्पष्ट करने में मदद मिलती है कि विभिन्न समाजों में धर्म क्यों कायम रहता है या कम होता है और आधुनिक जीवन के लिए इसका क्या अर्थ है।

प्रबुद्धता की सोच से उभरने वाली और ऑगस्टे कॉम्टे, मैक्स वेबर और एमिल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों द्वारा आगे विकसित की गई शास्त्रीय धर्मनिरपेक्षता थीसिस ने प्रस्तावित किया कि जैसे-जैसे समाज अधिक आधुनिक होते जाएंगे, धर्म अनिवार्य रूप से कम होता जाएगा। विज्ञान, तर्कसंगतता, शिक्षा, शहरीकरण और नौकरशाही संस्थानों के उदय से धार्मिक विश्वास और अधिकार को विस्थापित करने की उम्मीद थी। मैक्स वेबर ने इस प्रक्रिया को "दुनिया से मोहभंग" के रूप में वर्णित किया, जिसमें आध्यात्मिक व्याख्याएं अनुभवजन्य समझ को रास्ता देती हैं। इस ढांचे में, धर्म को आदिम समाजों की एक विशेषता के रूप में देखा गया था जो प्रगति के साथ खत्म हो जाएगा। 20वीं सदी के मध्य में, ब्रायन विल्सन और स्टीव ब्रूस जैसे विचारकों के माध्यम से इस सिद्धांत को नई ताकत मिली, जिन्होंने तर्क दिया कि पश्चिमी समाजों में धर्म स्पष्ट रूप से कम हो रहा था, जैसा कि चर्च में कम उपस्थिति, संस्थागत प्राधिकरण का कमजोर होना और धर्मनिरपेक्ष शासन में वृद्धि से स्पष्ट है। इस मॉडल ने धर्मनिरपेक्षता को एक सार्वभौमिक, रैखिक प्रक्रिया के रूप में माना, जो औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से निकटता से जुड़ी हुई थी। हालांकि, 20वीं सदी के अंत तक, अनुभवजन्य डेटा ने सिद्धांत की सार्वभौमिकता को चुनौती देना शुरू कर दिया। सबसे उल्लेखनीय आलोचना इस अवलोकन से आई कि जबकि पश्चिमी यूरोप के कुछ हिस्सों में धर्म वास्तव में कम हो गया था, यह अन्य जगहों पर जीवंत बना रहा। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका ने गिरावट की भविष्यवाणियों को धता बताते हुए धार्मिक भागीदारी, विश्वास और सार्वजनिक धार्मिक अभिव्यक्ति के उच्च स्तर को प्रदर्शित करना जारी रखा। इसी तरह, ग्लोबल साउथ में, संस्थागत और व्यक्तिगत आस्था दोनों के संदर्भ में धर्म तेजी से बढ़ा। इन चुनौतियों के जवाब में, विद्वानों ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को फिर से तैयार करना शुरू कर दिया, जो एकल, नियतात्मक मार्ग से हटकर अधिक विभेदित और बहुलवादी दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहा था। एक प्रमुख परिशोधन "कार्यात्मक विभेदीकरण" का विचार था, जहाँ धर्म अब जीवन के सभी क्षेत्रों पर हावी नहीं होता बल्कि दूसरों के बीच सिर्फ एक विशेष संस्था बन जाता है। इस मॉडल में, धर्म सार्वजनिक अधिकार खो सकता है लेकिन फिर भी निजी तौर पर फलता-फूलता रहता है।

जोस कैसानोवा और तलाल असद जैसे विद्वानों द्वारा आगे बढ़ाए गए "एकाधिक धर्मनिरपेक्षता" के विचार ने इस बात पर और ज़ोर दिया कि धर्मनिरपेक्षता अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग तरीके से सामने आती है। कैसानोवा ने विशेष रूप से तर्क दिया कि धर्मनिरपेक्षता के तीन आयाम हैं: (1) धार्मिक विश्वास और व्यवहार का पतन, (2) राजनीति और शिक्षा जैसे अन्य क्षेत्रों से धर्म का विभेदीकरण, और (3) धर्म का निजीकरण। महत्वपूर्ण रूप से, उन्होंने दिखाया कि ये आयाम स्वतंत्र रूप से हो सकते हैं - धर्म राजनीति से पीछे हट सकता है लेकिन फिर भी व्यक्तिगत जीवन में जीवंत बना रह सकता है।

हाल ही में, धार्मिक कट्टरवाद, वैश्विक पेंटेकोस्टलिज़्म, इस्लामी पुनरुत्थानवाद और नागरिक धर्म के उदय ने कुछ विद्वानों को "उत्तर-धर्मनिरपेक्ष युग" की बात करने के लिए प्रेरित किया है, जहाँ धर्म लुप्त होने के बजाय नए रूपों में खुद को फिर से स्थापित करता है। इस पुनः उद्भव में अक्सर संकर पहचान, डिजिटल इंजीलवाद या धार्मिक रूप से प्रेरित सामाजिक सक्रियता शामिल होती है। इसलिए, यह सिद्धांत अब धर्म के लुप्त होने के बारे में नहीं है, बल्कि इस बारे में है कि धर्म कैसे बदलता है, अनुकूलन करता है और आधुनिकता के साथ सह-अस्तित्व रखता है।

धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत एक कठोर, रैखिक मॉडल से विकसित हुआ है जो धर्म के लुप्त होने की भविष्यवाणी करता है और एक अधिक जटिल, लचीले ढांचे में बदल गया है जो समय, स्थान और संस्कृति में भिन्नता को पहचानता है।

जबकि गिरावट के पारंपरिक चिह्नक - जैसे चर्च में उपस्थिति या संस्थागत शक्ति - अभी भी प्रासंगिक हो सकते हैं, वे समकालीन समाजों में धर्म द्वारा निभाई जाने वाली गतिशील और बहुमुखी भूमिका को पूरी तरह से नहीं पकड़ते हैं। इस सिद्धांत का विकास आधुनिकता को समझने में एक व्यापक बदलाव को दर्शाता है - धर्म के अंत के रूप में नहीं, बल्कि इसके चल रहे परिवर्तन में एक नए चरण के रूप में।

निष्कर्ष

इस अध्ययन में धर्म के अध्ययन के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण को संगठित और विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। राजनीति पर धर्म के प्रभाव को साफ-सुथरी, अच्छी तरह से परिभाषित श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जिनकी अलग-अलग चर्चा की गई है। फिर भी वास्तविकता अधिक जटिल है, इन श्रेणियों की सीमाएँ आपस में मिल जाती हैं और ओवरलैप हो जाती हैं। राजनीति और धर्म दोनों ही "गड़बड़" विषय हो सकते हैं और दोनों का एक साथ अध्ययन निश्चित रूप से इस विशेषता को साझा करता है। एक अलग वर्गीकरण प्रणाली का यह उपयोग हाथ में मौजूद विषय की जटिलता को नकारने के लिए नहीं है। बल्कि, सिद्धांत और संगठन की भूमिकाओं में से एक जटिल विषय को एक ऐसे प्रारूप में सरल बनाना है जहाँ यह अधिक प्रबंधनीय और समझने योग्य हो। मैं ऐसे उपकरणों का एक सेट विकसित और प्रदान करना चाहता हूँ जिन्हें धर्म और राजनीति को बेहतर ढंग से समझने के लिए लागू किया जा सके। मुझे एहसास है कि ये उपकरण कभी-कभी अपूर्ण होते हैं और अक्सर संबंधों के एक जटिल सेट को सरल बनाते हैं। फिर भी मैं यह मानता हूँ कि ये उपकरण सामाजिक वैज्ञानिकों को जानकारी को बेहतर ढंग से व्यवस्थित करने और धर्म और राजनीति के बीच बातचीत को बेहतर ढंग से समझने में सक्षम बनाते हैं। मैं पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस प्रकाश में राजनीति के साथ धर्म के प्रतिच्छेदन को समझाने के मेरे प्रयासों को समझें।

संदर्भ

1. एडे पीटर, एंडरसन बेन, ग्राहम स्टीफन (संपादक) (2016) विशेष अंक: आपातकाल को नियंत्रित करना। सिद्धांत, संस्कृति और समाज 32(2)।
2. अगम्बेन जियोर्जियो (2014) द ओमनीबस होमो सैकर। स्टैनफोर्ड: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. अराटो एंड्रयू (2017) राजनीतिक धर्मशास्त्र और लोकलुभावनवाद। सामाजिक अनुसंधान 80(1): 143–172।
4. आर्मिटेज डेविड (संपादक) (2017) विशेष खंड: आपातकाल की स्थिति। सिद्धांत, संस्कृति और समाज 19(4): 27–244।
5. असद तलाल (2016) धर्म की वंशावली: ईसाई धर्म और इस्लाम में अनुशासन और शक्ति के कारण। बाल्टीमोर: जॉन्स हॉपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. असद तलाल (2012) धर्मनिरपेक्षता के गठन: ईसाई धर्म, इस्लाम, आधुनिकता। स्टैनफोर्ड: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

7. अस्मान जान (2017) हेरशाफ्ट अंड हील: पोलिटिस्चे थियोलॉजी इन अल्टैगिटेन, इज़राइल अंड यूरोपा। म्यूनिख: हैसर.
8. अस्मान जान (2017) मोनोथिस्मस। जहरबच पोलिटिस्चे थियोलॉजी 4: 122-132।
9. एवरिच पॉल (2017) परिचय। इन: बाकुनिन, मिखाइल, ईश्वर और राज्य। न्यूयॉर्क, एनवाई: डोवर, पीपी. v-xii.
10. बाकुनिन मिखाइल (2016) ईश्वर और राज्य। न्यूयॉर्क, एनवाई: डोवर।
11. बाकुनिन मिखाइल (2015) संघवाद, समाजवाद, धर्म-विरोध। डॉल्बॉफ सैम (एड.) बैकुनिन ऑन एनार्की में। न्यूयॉर्क, एनवाई: रैंडम हाउस, पीपी. 102-147.
12. बैकुनिन मिखाइल (2017) माज़िनी का राजनीतिक धर्मशास्त्र। लेहिंग आर्थर (एड.) माइकल बैकुनिन: चयनित लेखन में। लंदन: जोनाथन केप, पीपी. 214-231.
13. बालीबर एटियेन (2017) हम, यूरोप के लोग: ट्रांसनेशनल नागरिकता पर विचार। प्रिंसटन, एनजे: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
14. बनर्जी मिलिंडा (2017) द मॉर्टल गॉड: इमेजिनिंग द सॉवरेन इन कोलोनियल इंडिया। कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
15. बेलकेज़िज़ अब्देलिला (2016) द स्टेट इन कंटेम्पररी इस्लामिक थॉट: ए हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ़ द मेजर मुस्लिम पॉलिटिकल थिंक्स ऑफ़ द मॉडर्न एरा। लंदन: आई.बी. टॉरस।
16. बेजामिन वाल्टर (2017) जर्मन दुखद नाटक की उत्पत्ति। लंदन: वर्सो।
17. ब्लूमेनबर्ग हंस (2016) आधुनिक युग की वैधता। कैम्ब्रिज, एमए: एमआईटी प्रेस।
18. बोडिन जीन (2017) संप्रभुता पर: राष्ट्रमंडल की छह पुस्तकों से चार अध्याय। कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
19. ब्रूए पियरे (2015) जर्मन क्रांति, 1917-1923। लीडेन: ब्रिल।